

हमारी दुनियां और बच्चे

पिछले दिनों मेरा वास्ता कुछ उच्च मध्यवर्गीय शहरी परिवारों से पड़ा तो मेरा ध्यान वहां के छोटे बच्चों पर गया। ऐसे परिवार के नौ-दस साल के बच्चों की पारस्परिक बातचीत की कुछ चीजों ने मुझे चौंका दिया। बच्चों की बातचीत की शैली और हाव-भाव वयस्कों जैसे थे। बातचीत की विषयवस्तु पर गौर किया तो पाया कि वहां 'बाल सुलभ' जिज्ञासाओं के लिए कोई जगह नहीं थी और न ही वे शरारत भरे तर्क-कुतर्क थे जो सिर्फ बच्चों की दुनियां में ही पाये जाते हैं। यदि आप बच्चों के कुछ समय बच्चा ही बने रहने के पक्षधर हैं और बचपन को लेकर मेरी ही तरह सोचते हैं तो इन बच्चों को देखकर आप भी जरूर निराश होते। लेकिन जब मां-बाप से मैंने इन बच्चों के बारे में बात की तो पाया कि वे इन 'प्रबुद्ध' बच्चों से परम प्रसन्न हैं। आखिर वे उन्हीं की इच्छाओं की तो 'प्रति-छायाएं' थे।

बच्चे को मनुष्य का 'एक लघु प्रतिरूप' मानने वाली धारणा को भला इस बात से क्या धक्का लगेगा कि वह अपने वृहद् रूप का ही अनुकरण कर रहा है। यदि हम बच्चे को 'एक स्वतंत्र व्यक्तित्व' मानते हैं जो संवेदनायुक्त और कल्पनाशील है तो बात और है। फिर यह भी मानना पड़ेगा कि इसका अपना 'निजी सोच' और 'विशिष्ट शैली' भी होगी। बच्चे की अपनी ही कुछ अन्तर्निहित विशेषताएं होंगी और उसके व्यक्तित्व के विकास की संभावनाओं के अपने ही क्षितिज होंगे। बेशक, सब कुछ उतना ठीक ठाक और मुकम्मिल नहीं होगा, लेकिन चीजें नैसर्गिक रूप से तो बीज रूप में विद्यमान होंगी ही। माँ-बाप, परिवार और विद्यालय बच्चे में विद्यमान नैसर्गिक गुणों का स्वाभाविक विकास होने में मदद करें - यह तो निश्चय ही इनका एक अनिवार्य दायित्व है। लेकिन बच्चे की 'निजता' को समझे वगैर यदि हम उसे 'मनचाहा' रूप देने की कोशिश करने लगे तो यह शायद उसके प्राकृतिक अधिकार के क्षेत्र में अनुचित दखल भी है। 'बच्चे के हित' की आड लेकर अक्सर ऐसा दखल हम निरंतर करते रहते हैं। बच्चा अपने अभिभावकों और परिवार पर निर्भर है। छोटी उम्र में तो उसकी स्थिति लगभग परजीवी जैसी है। वह स्वयं अपना सर्वांगीण विकास करने में सक्षम नहीं है, उसे इसमें दूसरों की जरूरत पड़ती है। बच्चे के मां-बाप और परिवार 'एक प्रदत्त स्थिति' है जो बच्चे के लिए उसकी नियति की तरह है। अगर बच्चा स्वयं अपने मां-बाप और परिवार के बारे में ठोस अप्रिय राय बनाता भी है तो तब तक उसका बचपन गुजर चुका होता है। अभिभावकों और परिवार की तरह ही 'परिवेश' भी बच्चे के लिए 'पूर्वप्रदत्त' यथार्थ है जिसमें विद्यालय भी शामिल है। इनकी स्थिति को बदलने में सामान्यतः खुद बच्चे की कोई भूमिका नहीं हो सकती, भले ही उसकी ऐसी इच्छा हो। ऐसी इच्छा बेबसी में ही फंसी रह जायेगी, यदि वयस्क उसे नहीं सुनें और ठीक से तबज्जो नहीं दें।

इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो अभिभावकों की हैसियत हिसाब से बच्चों की दुनिया दो विषम हिस्सों में बंट जाती है। एक संपन्न अभिभावकों की समृद्ध दुनियां है और दूसरी विपन्नों की अभावग्रस्त दुनियां। ये दो समान्तर किन्तु विरोधाभासी दुनियाएं यहां पहले से ही विद्यमान हैं और बच्चे को इनमें से अपने लिए किसी एक के चुनाव की स्वतंत्रता नहीं है। वह जिस भी दुनिया में जन्म लेता है, उस दुनियां की सुविधा या आपदा उसे विरासत में मिल जाती है।

बच्चे के समाजीकरण की प्रक्रिया में सम्पन्न तबके उस पर अपनी आकांक्षा आरोपित करना चाहते हैं, उसके ऊपर अपनी जीवन शैली थोपते हैं और 'मैनरिज्म' सिखाते हैं। अभिभावकों और परिवार की अतृप्त इच्छाओं और स्वप्नों को भी बच्चों की अपनी इच्छाओं व स्वप्नों में तब्दील कर दिया जाता है। यहां विद्यालय बच्चे को इस काबिल बनाने की प्रशिक्षण शाला बनता है जबकि विपन्न दुनियां में बच्चा दो जून रोटी के जुगाड़ में लगे मां-बाप के साथ मारा-मारा फिरता है। यदि मां-बाप कहीं स्थिर जीवन जी रहे हैं तो वह विद्यालय जाने लगता है। इनका विद्यालय भी इनकी ही तरह दरिद्र होता है। परिवार के दबावों के चलते अनेक बच्चों को विद्यालय बीच में ही छोड़ देने पर मजबूर होना पड़ता है। वे रोजी-रोटी की लड़ाई में मां-बाप का हाथ बंटाने लगते हैं। कई बच्चे तो विद्यालय से बाहर ही रह जाते हैं। इन तमाम बच्चों को 'पूर्व-प्रदत्त' दुनियां के नियमों का अनुकरण करना पड़ता है। यदि वे इन नियमों की अवहेलना करें तो उन्हें गंभीर खतरे उठाने पड़ते हैं। फिर भले ही ये नियम कितने ही कठोर या अमानुषिक क्यों न हों !

हम देखते हैं कि इन दोनों दुनियाओं में, बच्चे में विद्यमान नैसर्गिक विशेषताओं के सर्वांग विकास के लिए पर्याप्त अवसर नहीं हैं। बच्चे पर वयस्कों की दुनिया हावी है। उसकी अपनी कोई दुनिया नहीं है जहां वह अपनी कल्पना के घोड़ों पर सवारी कर सके, सपनों के संसार में उड़ान भर सके, चीजों को अपने ही तर्क से समझ सके। जहां उसे औरों की इच्छाओं का पुतला नहीं बनना पड़े बल्कि वह अपनी ही तरह जिंदगी बसर करने लायक बन सके। कैसी विडम्बना है कि हमारे कथित जनतांत्रिक समाज में बच्चों की स्थिति लगभग अधिकार विहीन है ! यहां तक कि हमने बच्चों के लगभग वे सारे खेल भी छीन लिए हैं जिनमें वे वयस्कों के हस्तक्षेप से मुक्त होते थे। आज वे वयस्कों द्वारा रचे गये खेल खेल रहे हैं।

हम यह मानें या मानें लेकिन आज यह सच्चाई है कि हमारे कथित 'सभ्य' और 'उत्तर-आधुनिक' समाज पर जिस तरह 'विकास' की तमाम पाश्चात्य अवधारणाएं हावी हैं, ठीक वैसे भी बच्चे की भी कोई 'ग्लॉबल' अवधारणा असरकारी हो रही है। तमाम संचार-तंत्र इस अवधारणा को पुख्ता कर रहे हैं। बच्चा दृश्य माध्यमों पर प्रसारित कार्यक्रमों और विज्ञापनों से क्या ग्रहण कर रहा है ? प्रतिस्पर्धा और चकाचौंध से भरी यह दुनियां बच्चे का कैसा समाजीकरण कर रही है ? इसका उत्तर इन पंक्तियों के प्रश्न में देखा जा सकता है :

'जो भी गाली थी बच्चों की जुबां तक पहुंची
आपके शहर में तालीम कहां तक पहुंची ?'

इन पंक्तियों में शायद विद्यालय की सीमा की ओर भी संकेत है। बच्चा बमुश्किल अपना तीस प्रतिशत समय विद्यालय में गुजारता है, बाकी सत्तर प्रतिशत वह जिस परिवेश में गुजारता है, वहां वह दृश्य माध्यमों का तीव्र प्रभाव झेलता है और वयस्कों के घात-प्रतिघात, द्वैत और अन्तर्विरोध देखता है। विद्यालय फिर भी एक सार्थक हस्तक्षेप कर सकते थे लेकिन वहां ऐसे दृश्य निरंतर कम होते जा रहे हैं जिनके लिए निदा फाजली ने कहा था :

जितनी बुरी कही जाती है
उतनी बुरी नहीं है दुनिया
बच्चों के स्कूल में शायद
तुमसे मिली नहीं है दुनिया

विद्यालय का पूरा जोर बच्चों को संदर्भित समाज के इच्छानुरूप अनुकूलित करने पर है । बच्चों की संवेदना और कल्पनाशीलता के लिए शायद ही वहां जगह है । यहां तक कि विद्यालयों में बच्चों की सृजनशीलता के भी मानी बदल गये हैं । घर में बच्चे यदि दृश्य से घिरे हैं, परिवेश से आक्रांत हैं तो विद्यालय में पुस्तकों के बोझ तले दबे हैं । निदा फाजली की ही ये पंक्तियां बच्चे के 'प्रतिकृति' बनाये जाने के प्रतिवाद में कितनी मौजूं हैं :

बच्चों के नन्हें हाथों को
चांद सितारे छूने दो
चार किताबें पढ़कर ये भी
हम जैसे हो जायेंगे ।

लेकिन बच्चों को 'अपने जैसा' और इससे भी बढ़कर वैसा बनाने पर जैसा कि 'हम होना चाहते थे किन्तु हो न सके' हमारा इतना दबाव है कि उससे इतर हम कुछ भी देखना, सुनना और करना नहीं चाहते । इससे इतर बच्चे की कोई भी बात, शिकायत या शंका हमें अपनी अवहेलना नजर आती है। यहां तक कि हमने बच्चे की सहज जिज्ञासाओं और वाजिब सवालों तक का गला घोट दिया है और दिन रात बने बनाये उत्तर और 'नित नयी सूचनाएं' उसके दिमाग में टूंसने के उपक्रम में लगे रहते हैं । बदले में हम क्या पाते हैं :

एक दिन बच्चे मां-बाप को
देखने लगते हैं आदमी-औरत की तरह
एक दिन बंद कर देते हैं सवाल पूछना
एक दिन बच्चे बड़े हो जाते हैं'

- 'एक दिन' / आशुतोष दुबे

जब बच्चा इस तरह 'बड़ा होकर' हमारी दुनियां में शामिल हो जाता है तो हम इसे अपनी 'सफलता' समझते हैं । मगर वास्तव में हम यह क्या कर रहे हैं ? बच्चों की मासूम और रंगीन दुनिया को अतिक्रांत कर हमने क्या पाया है ? इस दुनिया की क्रूरता को कम करने और इसे अधिक मानवीय बनाने की शेष संभावनाएं भी समाप्त तो नहीं कर लीं ? इस दुनियां को अगर बच्चों की नजर से देखें तो शायद हम भी राजेश रेड्डी से खुद को सहमत पायें :

मेरे दिल के किसी कोने में, एक मासूम - सा बच्चा
बड़ों की देखकर दुनियां, बड़ा होने से डरता है।

